कहानी

लड़कियां

मृणाल पाण्डे

जिस दिन हम लोग मां के साथ नानी के घर रवाना हुए, बाबू ने एक सुराही फोड़ी थी पता नहीं जान बूझकर या अनजाने में। पचाक! तमाम पानी-ही-पानी कमरे में फैल गया था। मां ने धोती ऊपर कर पैर रखते हुए, दूसरे कमरे से कान लगाए सुन रही सरू की मां से कहा था कि ज़रा पोंछा ले आये तमाम पानी-ही-पानी हो गया है और उनके पीछे पैर-वैर रपट कर किसी की हड्डी-पसली चटक गयी तो एक और मुसीबत।

मां को वैसे भी हर चीज़ के अंत में मुसीबत ही नज़र आती थी। हम लोग घर में होते तो मुसीबत, स्कूल में होते तो मुसीबत, बीमार होते तो मुसीबत, भले-चंगे उछलते-कूदते होते तो मुसीबत पोंछा लगाती सरू की मां ने सिर तनिक टेढ़ा करके मां से पूछा था कि इस फेरे तो तीनेक महीने रहोगी-ही-रहोगी, न! मां ने, जैसा कि इन दिनों उसकी आदत हो गयी थी, जांघों पर हाथ रखकर वज़न तौला और कांख कर बैठते हुए कहा कि हां, उससे पहले वे लोग आने देंगे थोड़े ही ना। "जा बाहर खेल" यह अंतिम आदेश मेरे लिए था, जो हमेशा की तरह हर गलत मौके पर हैरतअंगेज़ ढंग से किसी कोने में हाज़िर पायी जाती थी।

कमरे से टूटी सुराही का एक टुकड़ा चूसने के लिए सफाई से उड़ा कर ले जाते मैंने सुना कि मां, सरू की मां या जाले लगी छत से कह रही थी इस बार लड़का हो जाता तो उन्हें छुट्टी होती, बार-बार की मुसीबत... सरू की मां ने हमेशा की तरह सिर हिला-हिला कर ज़रूर कहा होगा, "क्यों नहीं, क्यों नहीं।"

ट्रेन में मैंने लड़-झगड़ कर खिड़की के पास की सीट हथिया ली थी और फिर दूसरों को जीभ बिराई- ईऽऽ, मां की नज़र अपनी ओर घूमती पाकर मैंने हिल-हिल कर जपा, "इ से इमली, ई से ईख!" परन्तु मां का ध्यान इस वक्त मुझ पर नहीं टिका। उस पर इस वक्त कई मुसीबतें थीं— बिखरा जाता सामान, डगमगाती सुराही, थकान, हम तीनों। एक स्टेशन पर खूब मिर्ची के समोसे खरीदे। तभी एक औरत ने बगल की खिड़की से अपने बच्चे को सू-सू करायी। मारे घिन के मुझसे समोसा नहीं खाया गया, मैंने मां को दिया। उबले आलू का एक टुकड़ा सीट पर पड़ा था। उसे मसल कर जू-जू कीड़ा बनाकर कुछ देर छोटी बहन को डराया। वह चीखी। मां ने चिकोटी काटी, मैं रोयी। बड़ी बहन ने तब उकता कर कहा, "क्या मुसीबत है!" बड़ी बहन ज़्यादा प्यार करती है। सिर्फ़ वही। बाकी सब गंदे हैं।

स्टेशन पर मामा लेने आए। मैं मामी की बगल में बैठी। मामी पान चबाती थीं तो उनके कान की लवों पर माणिक के बुंदे ऊपर-नीचे होते थे। ड्राइवर जितनी बार जीप का हार्न बजाता, हम तीनों बहनें मिलकर चीखतीं- पोंऽऽऽ। ड्राइवर, हंसा। घर पहुंच कर उसने मुझे और छोटी बहन को गोदी में लेकर जीप से उतारा। उतारने में सुराही फिर लुढ़क गयी, पानी फैल गया, मुझे बाबू की याद आई। और मैंने छोटी बहन की चप्पल को ऐसे दबाया कि वह गिरते-गिरते बची। "मुसीबत की जड़!" मां ने दांत भींच कर ऐसे कहा कि कोई और न सुने और मुझे हाथ से पकड़कर औरों को ऐसी दिखाया, जैसे मुझे संभाला हो, पर सचमुच में इतनी ज़ोर से भींचा कि कंधा दुख गया। नानी के घर आने में हमेशा यही होता है। बाबू तो साथ आते नहीं, और यहां आते ही मां भी मौसियों, मामियों, नानी और पुरानी नौकरानियों के बीच एकदम ही गुडुप। दिन में उसके पास भी जाना चाहें तो कोई-न-कोई टोक देता है, "यहां तो बेचारी को आराम करने दो।" मां भी कैसा बेचारी वाला चेहरा बना लेती है, जैसे वहां हम लोग उसे काट खाते हों! धत्!

नानी के घर में घुसने से चिढ़ होने लगी, मैं झाड़ियों के पास जान-बूझ कर ठिठकी। झबरा कुत्ता आया, उसने मुझे सूंघा, तभी भीतर से किसी ने मेरा नाम लेकर कहा, वह फिर कहां रह गयी! मैं और कुत्ता साथ-साथ घर में घुसे।

नानी, मामा के लड़के को गोद में लिए बैठी थीं। उन्होंने कुत्ते को दुत्कारा। कुत्ता पूंछ नीची कर निकल गया। मुझसे कहा गया कि पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐऽ सेऽ। अरे, लड़की का जनम है और ज़िंदगी भर झुकना है तो सी ऽ ख ही लो। नानी ने मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कहा कि उहुंक, ये नहीं बढ़ी लम्बाई में तनिक भी। आठ की कौन कहेगा इसे?

मैंने मामा के लड़के को चिकोटी भर ली। वह बेवकूफ सा तब भी मेरे पीछे घूमता रहा। गोरा-गोरा, प्यारा सा। वह उम्र के लिहाज़ से लंबा जा रहा था। पांच का था, सात का लगता। "कहानी सुनाएगी रात को?" उसने मुझसे पूछा। "नहीं," मैंने कहा और झूठ-मूठ अखबार पढ़ने लगी।

"क्या मुसीबत है!" मां कह रही थी और पड़ोसन नानी कह रही थी कि "लाली की मां, इस बार तो लाली के लड़का ही होगा, चेहरा देखो, कैसा पीला पड़ गया है लली का, लड़कियों की बेर कैसी सुरख गुलाब लगती थी।" "क्याऽ पता, इस बार भी।" मां ने कहा, और बेचारी वाला चेहरा बना कर नाखून खोंटने लगीं। मुझे बाबू की बहुत याद आयी। बाबू से कितनी साफ़ खुशबू आती थी ना! उनकी गोद गुलगुली थी। मां इधर ज़्यादा देर गोद में नहीं लेटने देती, कहती है- "उफ् हांटे-मांटे एक कर डाले, साड़ी मुसड़ दी सो अलग, अब उठ भी, ढेरों काम पड़ा है मेरा। ऊपर से ये मुसीबत औऽऽर। उठ।" नानी ऊपर को हाथ जोड़कर कहती है, "हे देवी, मेरी लाज रखना, इस बार ये मायके से बेटा लेकर जाये।" फिर वे आंखें पोछती हैं।

मैंने कनखियों से बहनों को देखा, वे सो गयी थीं। जहां हम सोये थे, वहां मेरे तखत के ठीक ऊपर एक बड़ी दीवाल घड़ी टिक-टिक करती थी। सब बत्तियां बंद हैं, कमरे में बस चांद का उजाला है। तुलसा दाई मां के तलवों में तेल ठोंक रही है, और कह रही है, "इस बार लड़का होगा तो स्टेनलेस स्टील की ज़री वाली साड़ी लूंगी, हांऽ।"

चांदनी में मां का चेहरा नहीं दीखता, बस ढोल जैसा पेट दीखता है। मां की साड़ी खिसक गयी है। तुलसा कोई दुखती रग छूती है तो मां हल्के से गुंगुआती है। घर लौटती गायों की तरह। "अबकी लड़का हो जाता, तो छुट्टी होती।" वह फिर तुलसा से भी कहती है। और यह भी कहती है कि अब तू जा, तेरे बच्चे बैठे होंगे-तेल की कटोरी चारपाई के खूब नीचे खिसका दीजो, वरना सुबह बच्चों के पैर से ठोकर लगी तो तमाम तेल-ही-तेल... खराब बात। मां आधी छोड़ देती है, तो देर तक कमरे में बात तैरती रहती है। घड़ी की टिक-टिक की तरह। अच्छी बात हमेशा पूरी कहते हैं बड़े लोग, खराब बात आधी ही-ऐसा क्यों? क्याऽ औरत का भाग्य चुप्पी। अरे तीन लड़कियांऽऽ चुप्पी। बाहर एक तारा खूब तेज़ चमक रहा है। क्या ध्रुवतारा होगा! बाबू कहते हैं, मन लगा कर पढ़ोगी तो तुम भी, जो चाहो बन सकती हो, ध्रुव तारे की तरह। लड़का तो नहीं बन सकती पर? मैं ढिठाई से कहती हूं, तो बाबू पता नहीं क्यों धमका देते हैं कि बड़ों के मुंह लगती हो। बड़े लोगों का कुछ भी समझ में नहीं आता। बड़ी बहन कहती है, बड़े लोगों का कभी भरोसा नहीं करना चाहिए, अपनी बात सब खोद-खोद कर पूछ लेते हैं, खुद कुछ नहीं बताते।

कोई हमें कुछ नहीं बताता। यहां ख़ासकर रात को जब हम सब सो जाते हैं तब यहां बड़ों की दुनिया खुलती है, जैसे बंद पिटारा। मैं जाग कर सुनना चाहती हूं पर हर बार बीच में मुझे जाने क्यों नींद आ जाती है। ये आवाज़ किसकी है? खांसी दबाते कौन रो रहा है? छोटी मौसी? "कुत्ते जित्ती इज्जत मेरी नहीं उस घर में।" वह मां के बगल में कहीं कह रही है। कहां? कहां? मैं पूछना चाहती हूं। मां कह रही है कि जी तो उन सबका कलपता है पर उसे निभाना तो है ही। मेरी आंखें बंद होती हैं।

"निभाना क्या होता है मां!" मैं सुबह पूछती हूं। सब लोग नाश्ता कर रहे हैं। मैं कहती हूं कि वो वाला निभाना जो छोटी मौसी को चाहिए। मुझे एक तमाचा पड़ता है, फिर दूसरा; फिर मामी बचाती हैं, छोड़िए भी बच्चा है। "बच्चा-वच्चा नहीं, पुरखिन है," मां का पेट गुस्से से थिरकता है, "चोरी से बड़ों की बातें सुनती है! जाने क्या होगा इसका!"

"तू भी..." बाहर हौदी के पास बैठी बड़ी बहन बीने फूलों को औंधाती कहती है, "सौ बार कहा नहीं, कि चबर-चबर सवाल मत पूछ। पीट-पीट के मार डालेंगे वो लोग तुझे एक दिन, अगर बहुत पूछेगी तो।" मैं रोते-रोते कहती हूं, "खूब पूछूंगी, खूब पूछूंगी, खूब पूछूंगी।" "तो जा के मर फिर।" बड़ी बहन कहती है और समझदारी से नानी के गोपाल जी की माला गूंथने लगती है। ये मेरी लाखों की लक्ष्मी बेटी है, नानी उससे कहती है, मुझे सुनाकर अकसर।

दोपहर में मैं छोटे बच्चों को खौफ़नाक डायनों और भूतों की कहानियां सुनाती हूं जो नीचे वाले अखरोट के पेड़ में रहते हैं, और कहती हूं कि चांदनी रात में ठीक बारह बजे उठकर वहां जाओ तो वे बच्चों के खून से नहाते दिखाई देंगे। नाक से बोलते हैं वो, नाक से! पहले-पहल तो उनकी बोली भी समझ नहीं आती। बच्चे मेरे पीछे-पीछे घर भर में घूमते हैं। जैसे जादूगर के पीछे चूहे।

दोपहर में बड़ी मामी और मां हमें खट्टी-मीठी गोलियां खाने को पैसे देकर भगा देती हैं। उनका कमरा अंधेरा है, कांचों पर हरा कागज़ चिपका है। मामी, मां, मौसियां, नानी सारे कमरे में औरतें-ही औरतें पड़ी हैं। हर घड़ी कुछ-न-कुछ खाती हुई। उनकी मुगदर जैसी बांहें, मोटी-मोटी अधनंगी टांगे, धारीदार पेट। हमें क्यों कहा जाता है, पैर फैला कर मत बैठो टांगें दिखती हैं, हैं?

"तुम सब गायों जैसी लगती हो," मैं औरतों से कहती हूं, पर शायद किसी ने सुना नहीं, फर्श पर तकिया डाले पड़ी छोटी मौसी एक खट्टी गोली हमसे लेकर चूसती हैं और कहती हैं "हद्द हैं जीजा जी भी!" अचानक कमरे में ठहाके छूट जाते हैं। कौन? क्यों? कैसे? मैं चारों तरफ उत्तर को ताकती हूं-पर यहां हमारी किसी को परवाह नहीं, वो सब फिर अपनी बोली बोल रहे हैं। बाहर जाकर मैं खूब ज़ोर से बाहर का दरवाज़ा पीटती हूं। अब शायद मां आकर कहेगी एक मुसीबत और-पर कोई भीतर से बाहर मेरी खबर लेने नहीं आता।

"हटो," सिर के इशारे से हरी की मां कहती है, वह ट्रे में ढेरों चाय के गिलास लिए कमरे में जा रही है- "हटो ये तुम्हारे लिए नहीं हैं, बड़ों के लिए हैं, हटो।" हरी की मां की नाक मेढक जैसी है, और उसकी भौंहें नाक के ऊपर जुड़ी हुई है। वह हंसती है तो मरे हुए चिमगादड़ की तरह उसके गाल लटक जाते हैं। "हटो ना," वह फिर कहती है। "नहीं हटूंगी," मैं अड़ जाती हूं, "पहले कहो लड़कियां अच्छी होती हैं।" "हां-हां, कह दिया, चलो-हटो," हरी की मां कहती है। "नहीं" मैं कहती हूं "ठीक-ठीक से कहो।"

"क्या हो रहा है, हरी की मां?" अंदर से मौसी की चिड़चिड़ी आवाज़ आती है, "चाय क्या अगले साल लाओगी?" हरी की मां मोटी-मोटी भौंहों से मुझे बरजती है, "ये मंझली लली भीतर नहीं.." वह हंसती है तो उसकी मेढक जैसी नाक फुदकती है- फुद्द-फुद्द। अंदर मां मेरा नाम लेकर कहती है कि ज़रूर वही कलपा रही होगी उसे। मेरे प्राण खाने को जनमी है लड़की। कोई कहता है, ऐसी हालत में गुस्सा नहीं करना चाहिए।

देर तक घर के बाहर बैठी हुई हवा में उड़ती गौरैयों को देखती मैं सोचती हूं मैं गौरैया क्यों न हुई? अच्छा, क्या मां गौरैया भी चिड़ियों में लड़कियों को कम अच्छा मानती होगी?

"कहां गयी?" भीतर से किसी की आवाज़ मुझे ढूंढ रही है। मैं जान-बूझ कर दीवार की ओट ही जाती हूं कि मुझे कोई ढूंढ न पाये। कहीं। किसी भी तरह। कहीं से वो जादू की सुपारी मिल जाती जिसे मुंह में रखकर जब चाहो अलोप हो जाओ तो मज़े ही मज़े।

रात को कहानी खत्म कर नानी कहती है कि अब जाओ तुम सब सोने। छोटी बहन सो गयी है। उसे हरी की मां गोद में भीतर ले जाती है। मैं नानी से पूछती हूं, क्या मैं नानी के पास सो सकती हूं? नानी का बदन गर्म और गुलगुला है-नानी की रज़ाई से इलायची-लौंग की बास आती है, नानी के तकिए के नीचे एक टॉर्च रहती है, उसे लेकर बत्ती बुझाने के बाद भी बाथरूम जाओ तो अंधेरे में पैर के अंगूठे में ठोकर नहीं लगती। मामा के सोते लड़के को पास खींचकर रज़ाई उढ़ाती नानी कहती है, "ना भैया, एक तो ये मुझे छोड़कर नहीं जाता, फिर दो-दो को मैं कहां सुलाऊंगी।" तू जा अपनी मां के पास। भला? कल फिर कहानी सुनाऊंगी।" नानी की आवाज़ खुशामद से चुंधी-चुधी है, जैसा बरगलाते वक्त बड़े लोगों की हो जाती है। कमरे में बड़ी बहन बिना मेरी तरफ करवट लिए कहती है, "सुला लिया तुम्हें?" उसका स्वर गुस्से से कांप रहा है। घड़ी बोलती है टिक-टिक। मां की नाक बज रही है। सुलाया तुम्हें? सुलाया तुम्हें? टिक-टिक खर्र-खर्र।

"कहां हो। री लड़कियों?" नानी हाथ में रोली की थाली लिए पीढ़े पर से पुकार रही हैं। नानी के सामने एक कढ़ाई में हलवा पड़ा है— थाली में ढेरों पूरियां। अष्टमी की सुबह है। नानी के आगे चटाई पड़ी है। "आओ, टीका लगवा लो।" नानी आरती में कपूर जलाती है, "आओ, आरती कर दूं तुम्हारी।" मेरी दोनों बहनें और मामा की सुन्दर लड़कियां नानी के आगे फसकड़ा मार कर बैठ गयी हैं। नानी उनके टीका-अक्षत लगाती है, घंटी बजाती हैं रेल के गार्ड की तरह, फिर शंख, पू ऽ ऽ। मैं इंजन बन कर आंगन की मुंडेर पर भागती हूं। कमरे में बास है, आरती-कपूर की बास; हलवे की, घी की बास; फूलों की बास-दे-दे पैसा चल कलकत्ता पू-पू-पू। "आजा बेटा, टीका करा ले, तू तो मेरी कन्याकुमारी है ना!" मैं कहती हूं, "नहीं, मैं तो इंजन हूं!" तभी डर मेरे पेट में मुट्ठी की तरह सख्त होता है। मां मेरी ओर लड़खड़ाती सी आ रही है।

क्रोध से उसका चेहरा भिंचा हुआ है, "मैं बनाती हूं तुझे इंजन, अभी इसी दम।"

"पागल हो रही हो लली?" पड़ोसन नानी, मां का हाथ पकड़कर मुझे आंखों से कहना मानने को कहती है, "बच्चा है वो-कन्याकुमारी ठैरी, आज अष्टमी हुई। देवी का दिन, आज के दिन कन्याकुमारी पर हाथ नहीं उठाना। सराप-पाप लगता है।" मैं धम्म से मुंडेर से नीचे कूदती हूं, मां रो रही है। नानी ने होंठ भींच कर लड़कियों को हलवा-पूरी परसना चालू कर दिया है।

"जा ना," चिड़चिड़ी मौसी कहती है, "क्यों अपनी मां को रुलाती है ऐसे में?"

"जब तुम लोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते तो झूठ-मूठ में उनकी पूजा क्यों करते हो?" मेरी आवाज़ रुलाई से फटती है, गुस्से में मेरे मन में आता है कि आरती का जलता कपूर निगल कर अपने इस दगाबाज़ गले को दाग दूं। "क्यों?" मैं फिर पूछना चाहती हूं, पर रो पड़ने के डर से चुप हूं। मैं रोना नहीं चाहती। इनके सामने, ख़ासकर।

हरी की मां ताज्जुब से पंजा गाल पर टिका कर कहती है, "मां री मां, सुनो तो इसकी बात? लड़की हो के ऐसा गुस्सा?"

नानी लड़कियों को सवा-सवा रुपया दे रही है। "सवा रुपये में बीस खट्टी गोलियां एक साथ ली जा सकती हैं। आने में एक।" इतना दीवार से कहकर नानी मेरी ओर भी रुपये के नोट में लिपटी चवन्नी बढ़ाती है। नानी के अंगूठे की नोक पर रोली का निशान खून का धब्बा जैसा लगता है। मैं दीवार की ओर पीछे हटती हूं। "मुझे नहीं चाहिए इन औरतों का हलवा-पूरी टीका, रुपया।" "मैं देवी नहीं बनूंगी!" मैं चिल्लाती हूं, इतनी ज़ोर से, कि आंगन में बाजरा चुगते कबूतर पर फटफटा कर उड़ जाते हैं। ज्यों कहीं गोली चली हो।